राजनीतिक समाज, सत्ता और सियासत

पार्थ (चटर्जी) के आगे जहाँ और भी हैं*

आदित्य निगम

तकरीबन डेढ़ दशक पहले पार्थ चटर्जी ने भारतीय राजनीतिक चिंतन के इतिहास में या शायद उत्तर-औपनिवेशिक राजनीतिक चिंतन के इतिहास में एक नये क़िस्म के सफ़र का आग़ाज़ किया था। पिछले कई दशकों से चटर्जी भारतीय राजनीति और उससे पैदा होने वाली कई पहेलियों से बौद्धिक जद्दोजहद करते आये हैं और ख़ास कर आठवें दशक से मातहत तबक़ों और समूहों की सियासत से उनका विशेष सरोकार रहा है।[1] इन्हीं तमाम चिंताओं को एक जगह समेटते हुए और अपने दशकों लम्बे शोध के नतीजों पर मनन करते हुए उन्होंने राजनीतिक समाज की अपनी उस अवधारणा को शक्ल देने की शुरुआत की जिसे आज व्यापक तौर पर स्वीकार किया जाने लगा है। इस स्वीकृति के कई रूप हैं। जहाँ कई लोगों ने इसे ग़ैर-पश्चिमी समाजों के विश्लेषण में एक

---

* इस लेख की शुरुआत चूंकि पार्थ चटर्जी की नयी किताब *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी* की समीक्षा के तौर पर हुई थी इसलिए इसे स्वतंत्र लेख तो नहीं कहा जा सकता है. मगर क्योंकि लेख का फलक अनिवार्यतः काफी फैल गया है और इसमें राजनीतिक समाज के ज़रिये भारतीय राजनीति के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं के साथ-साथ कुछ सैद्धांतिक सवालों पर चर्चा ज़रूरी हो गयी इसलिए अब यह सिर्फ़ एक समीक्षा लेख भर भी नहीं है. शायद दोनों के दरमियान कुछ है. इस पर्चे के मसविदे पर मुझे अभय कुमार दुबे, राकेश पाण्डे, कमल नयन चौबे और नवीन चंद्र की टिप्पणियाँ प्राप्त हुईं जो पर्चे को तैयार शक्ल देने में बहुत मददगार साबित हुईं. मैं उन सभी का बहुत आभारी हूँ.

[1] यहाँ मातहत तबक़ों या समूहों से हमारी मुराद सबाल्टर्न समूहों से है. सबाल्टर्न के लिए निम्न वर्ग का प्रयोग, जैसा सबाल्टर्न स्टडीज़ के अनुवाद में किया गया है, सही नहीं है. सबाल्टर्न के शाब्दिक अर्थ का और ख़ुद सबाल्टर्न स्टडीज़ में जिस अर्थ में उसका प्रयोग होता है, उस लिहाज़ से आशय सिर्फ़ निम्नता से नहीं बल्कि सत्ता संबंधों में मातहत दर्जे से है.

महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में अपना लिया है, वहीं बहुत से लोगों ने उसे सिरे से ख़ारिज कर दिया है मगर ख़ारिज करते हुए उन्हें भी उससे जूझने की ज़रूरत पेश आयी है।[2] इसके अलावा कुछ ऐसी भी प्रतिक्रियाएँ सामने आयी हैं जहाँ राजनीतिक समाज की अवधारणा मूल रूप से स्वीकारते हुए भी उसे थोड़ा अलग ढंग से परिभाषित या संशोधित करने की कोशिश की गयी है।[3]

राजनीतिक समाज : पृष्ठभूमि

इस दौर की उन तमाम रचनाओं में जहाँ वे राजनीतिक समाज की अपनी धारणा विकसित करते हैं, पार्थ चटर्जी भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में कुछ हद तक सियासत की पेचीदा बनावट से जूझते दिखायी पड़ते हैं।[4] इससे पहले कि हम यह चर्चा आगे बढ़ाएँ, थोड़ा सा ठहर कर सियासत के इस मसले पर ग़ौर कर लेना मुनासिब होगा।

राजनीतिक सिद्धांत और दर्शन में 'पॉलिटिक्स' और 'द पॉलिटिकल' (फ्रांसीसी भाषा में *ल पोलिटीक* और *ले पौलिटीक*) में अक्सर फ़र्क़ किया जाता है। अलग-अलग सिद्धांतकारों में इस फ़र्क़ की अलहदा व्याख्याएँ मिलती हैं। वैसे तो राजनीतिक सिद्धांत के धरातल पर इसका इतिहास काफ़ी पीछे तक जाता है और शायद पहली बार कार्ल श्मिट ने पिछली सदी के शुरुआती दशकों में अपनी किताब *द कांसेप्ट ऑफ़ द पॉलिटिकल* में 'द पॉलिटिकल' पद का इस्तेमाल किया था। श्मिट के लिए जहाँ भी दोस्ती और दुश्मनी के रिश्ते, अदावत के रिश्ते, मौजूद होते हैं उसी क्षेत्र को वे 'द पॉलिटिकल' कहते हैं। श्मिट ने इस पद का इस्तेमाल तो किया मगर इसके बरक्स 'पॉलिटिक्स' नाम का पद खड़ा नहीं किया। यह फ़र्क़ हमें 1960 के दशक के आसपास फ्रांस में सक्रिय कुछ विचारकों के लेखन में देखने को मिलता है।

एक ओर क्लॉड लेफ़ोर जैसे दार्शनिक हैं जिनके लिए 'द पॉलिटिकल' का आशय सामाजिक सत्ता के गठन में राजनीति की भूमिका से है और पॉलिटिक्स का अर्थ राजनीतिक अमल से है। लेफ़ोर का कहना है कि जिसे हम राजनीतिक अमल के रूप में देखते हैं और जिसके बारे में हम मानते हैं कि वह समाज में घटित होता है, उससे यह बिल्कुल अलग है। यह वह चीज़ है जो ख़ुद समाज नाम की शै को आकार देती है। समाज का वजूद में आना ही इस पर निर्भर करता है। राजनीति के इसी स्तर पर समाज नाम की चीज़ क्रमबद्ध और एकबद्ध होकर एक ख़ास शक्ल पाती है। दूसरी ओर 'पॉलिटिक्स' उस राजनीतिक अमल का नाम है जिसका अध्ययन राजनीतिविज्ञानी और समाजशास्त्री करते हैं,

---

[2] इस किस्म के कुछ प्रतिनिधि लेखों के लिए देखें अजय गुडूवर्थी (2012), *रीफ़्रेमिंग डेमोक्रेसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया,* एंथम प्रेस लंदन, न्यूयार्क.

[3] इस श्रेणी में मेरे ख़ुद के कई लेख शामिल हैं। देखें आदित्य निगम (2005) 'सिविल सोसाइटी ऐंड इट्स अंडरग्राउंड : एक्सप्लोरेशन्स इन द नोशन ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी', राजीव भार्गव व हेल्मुट राइफ़ेल्ड (सम्पा.), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फ़ियर ऐंड सिटीज़नशिप : डायलॉग्स ऐंड परसेप्शंस* , सेज पब्लिशर्स, दिल्ली व लंदन (2006), *द इंज़रेक्शन ऑफ़ लिटिल सेल्व्ज़ : द क्राइसिस ऑफ़ सेकुलर-नेशनलिज़्म इन इंडिया,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; इनके अलावा देखें निवेदिता मेनन (2010), 'इंट्रोडक्शन', पार्थ चटर्जी, *एम्पायर ऐंड नेशन : इसेंशियल राइटिंग्ज़ (1985-2005),* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक; निवेदिता मेनन व आदित्य निगम (2007), *पावर ऐंड कांटेस्टेशन : इंडिया सिंस 1989,* ज़ेड बुक्स, लंदन, और ओरिएंट लोंगमैन, दिल्ली (2008); द्वैपायन भट्टाचार्य (2009), ऑफ़ कंट्रोल ऐंड फैक्शन्स : द चेंजिंग पार्टी-सोसाइटी इन वेस्ट बंगाल, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 9.

[4] मूलत: इन लेखों में पार्थ के तर्क का विस्तृत ब्योरा मिल सकता है। पार्थ चटर्जी (1997), 'बियोंड ड नेशन? और विदिन?' *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 32, अंक 1-2; (1998क), 'कम्युनिटी इन ड ईस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 6; (1998 ख), *वेज़िज़ ऑफ़ फ्रीडम : फ़िफ़्टी ईअर्स ऑफ़ द इंडियन नेशन स्टेट,* दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्न्ड : रिफ़्लेक्शंस ऑन पॉपुलर पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत; (2011), *लीनियेज़िज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

जिसमें पार्टियाँ प्रतिद्वंद्विता करती हैं और समाज जिसकी पूर्व शर्त है।[5] दूसरी तरफ़, संरचनावाद के दौर में लिखते हुए निकोस पूलांत्साज़ इस फ़र्क़ को कुछ अलग ढंग से समझते हैं। 'द पॉलिटिकल' उनके लिए राज्य का वैधानिक-संरचनात्मक ढाँचा है। राजनीति उनके लिए भी राजनीतिक अमल का नाम है।[6] पूलांत्साज़ चूँकि मार्क्सवादी थे इसलिए वे इसे वर्गीय राजनीतिक अमल कहते हैं। मगर आज के मुक़ाम पर खड़े हो कर हम इसे तमाम तरह के राजनीतिक अमलों के तौर पर भी समझ सकते हैं।

मैं जिस अर्थ में यहाँ इन पदों का इस्तेमाल कर रहा हूँ वह इनसे कुछ मिलता-जुलता मगर कुछ अलहदा भी है। मेरे प्रयोग में एक का सरोकार *राजनीति की औपचारिक ज़मीन* से है और दूसरे का उस *राजनीति से जो समाज भर में व्याप्त मिलती है,* जिसका अक्सर औपचारिक राजनीति में शुमार नहीं हो पाता है। हिंदी में चूंकि 'द पॉलिटिकल' के लिए 'राजनीतिक' शब्द का संज्ञा के रूप में इस्तेमाल बहुत अटपटा लगेगा, इसलिए मैंने एक के लिए राजनीति और दूसरे के लिए सियासत शब्द का इस्तेमाल किया है। इस तरह 'द पॉलिटिकल' को 'राजनीति' शब्द के ज़रिये व्यक्त किया गया है। यह राज और राजकाज से सीधे-सीधे जुड़ता है, जबकि पॉलिटिक्स के लिए मैंने सियासत शब्द का इस्तेमाल किया है। मुमकिन है इससे शुरुआत में थोड़ी परेशानी हो, मगर उम्मीद है कि आखिरकार इससे इस फ़र्क़ को चिह्नित करने में सुविधा ही होगी।[7]

आगे बढ़ने से पहले एक बात और। यहाँ यह साफ़ कर देना ज़रूरी है कि राजनीति और सियासत का यह फ़र्क़ न तो महज़ पश्चिमी राजनीतिक प्रत्ययों का सीधे-सीधे अनुवाद है, और न ही इसे उनके चश्मे से भारतीय यथार्थ को देखने-समझने की कोशिश समझा जाना चाहिए। हमारे ख़ुद के इतिहास में इस तरह का फ़र्क़ करने की ज़रूरत समय-समय पर सामने आती रही है। एक मिसाल तो सबाल्टर्न स्टडीज़ के इतिहासकारों के काम के ज़रिये सामने आती है जहाँ हम पाते हैं कि बड़े पैमाने

मेरे प्रयोग में एक का सरोकार राजनीति की औपचारिक ज़मीन से है और दूसरे का उस राजनीति से जो समाज भर में व्याप्त मिलती है, जिसका अक्सर औपचारिक राजनीति में शुमार नहीं हो पाता है। हिंदी में चूंकि 'द पॉलिटिकल' के लिए 'राजनीतिक' शब्द का संज्ञा के रूप में इस्तेमाल बहुत अटपटा लगेगा, इसलिए मैंने एक के लिए राजनीति और दूसरे के लिए सियासत शब्द का इस्तेमाल किया है। इस तरह 'द पॉलिटिकल' को 'राजनीति' शब्द के ज़रिये व्यक्त किया गया है। यह राज और राजकाज से सीधे -सीधे जुड़ता है। जबकि पॉलिटिक्स के लिए मैंने सियासत शब्द का इस्तेमाल किया है।

---

[5] देखें क्लाउद लेफ़ोर (1988), *डेमॉक्रैसी ऐंड पॉलिटिकल थियरी,* पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड : 11; इस विषय की विस्तृत चर्चा के लिए देखें ऑलिवर मार्शार्ट (2007), *पोस्ट-फाउंडेशनल पॉलिटिकल थॉट : पॉलिटिकल थॉट इन नोंसी, लेफ़ोर, बादियू ऐंड लक्लाऊ,* एडिनबरा युनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबरा.

[6] देखें निकोस पूलान्त्साज़ (1968), *पॉलिटिकल पावर ऐंड सोशल क्लासिज़,* वर्सो, लंदन : 37-41.

[7] वैसे भी अपनी व्युत्पत्ति के लिहाज़ से सियासत शब्द का ताल्लुक़ मवेशियों की देखभाल और प्रबंधन से हुआ करता था। राजनीति के पर्याय के रूप में उसका इस्तेमाल बहुत बाद में शुरू हुआ।

1980 के दशक में देश के अलग-अलग हिस्सों में औपचारिक राजनीतिक व्यवस्था और पार्टियों के दायरे के बाहर राजनीति का विस्फोट देखने में आया जिसके ज़रिये नये किस्म के सवाल राजनीति के दायरे में आने लगे। इनमें तरह-तरह के जनांदोलन भी थे और उभरता हुआ नारीवादी आंदोलन भी था। इनमें आज जिन्हें सामाजिक आंदोलन कहा जाता है, वे भी थे। रजनी कोठारी और धीरूभाई शेठ जैसे विश्लेषकों ने इसे गैर-पार्टी राजनीतिक प्रक्रिया का नाम दिया। साफ़ था कि नये-नये किस्म के मुद्दे और नयी-नयी अदावतें (एंटागॉनिज़्म्स) सामने आ रही थीं।

पर औपचारिक राजनीति के क्षेत्र की उठापटक से बिल्कुल जुदा, एक राजनीति स्थानीय स्तर पर अलग ही लय और ताल में चलती रहती है। कभी-कभी औपचारिक राजनीति से इसका रिश्ता ज़रूर बनता है, मगर अक्सर कोई संबंध नहीं होता।[8] मगर सवाल सिर्फ स्थानीय राजनीति का नहीं है। 1980 के दशक में देश के अलग-अलग हिस्सों में औपचारिक राजनीतिक व्यवस्था और पार्टियों के दायरे के बाहर राजनीति का विस्फोट देखने में आया जिसके ज़रिये नये क़िस्म के सवाल राजनीति के दायरे में आने लगे। इनमें तरह-तरह के जनांदोलन भी थे और उभरता हुआ नारीवादी आंदोलन भी था। इनमें आज जिन्हें सामाजिक आंदोलन कहा जाता है, वे भी थे। रजनी कोठारी और धीरूभाई शेठ जैसे विश्लेषकों ने इसे गैर-पार्टी राजनीतिक प्रक्रिया का नाम दिया। साफ़ था कि नये-नये क़िस्म के मुद्दे और नयी-नयी अदावतें (एंटागॉनिज़्म्स) सामने आ रही थीं। औपचारिक पार्टीगत राजनीति से इनका अक्सर कोई रिश्ता नहीं होता था। हाल के सालों में कुछ और ही क़िस्म की टकराहटें, ख़ासकर शहरी ज़िंदगी के संदर्भ में उभर कर सामने आयी हैं। सरकारी और सरमायेदार खित्तों में जिसका एक नाम पाइरेसी है। इन सभी में हमें राजनीति की औपचारिक ज़मीन के बाहर, पूरे समाज में व्याप्त एक अलहदा क़िस्म की चीज़ देखने को मिलती है जिसे मैं सियासत कह रहा हूँ। इसकी विस्तृत चर्चा हम इस लेख के आख़िरी हिस्से में करेंगे। फ़िलहाल, आइए पार्थ चटर्जी की तरफ़ एक बार फिर से लौटें।

राजनीतिक समाज की धारणा विकसित करने वाली अपनी रचनाओं में पार्थ कहते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक लोकतंत्रों या जम्हूरियतों का वजूद ही एक बुनियादी अंतर्विरोध से ग्रस्त है। यह है आधुनिकता और लोकतंत्र के बीच का अंतर्विरोध। आम तौर पर तो यह माना जाता है कि जम्हूरियत या लोकतंत्र आधुनिकता का ही एक पहलू है, उसी की देन है। एक मायने में यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि किसी भी समाज के प्राक-आधुनिक राजतंत्र से या राजों-रजवाड़ों के निज़ाम से आधुनिकता की तरफ़ बढ़ने की सबसे पुख़्ता निशानी उसका लोकतंत्र में तब्दील होना है। एक ऐसी राज-व्यवस्था, जहाँ राजनीतिक सत्ता पुश्तैनी ढंग से कुनबे के भीतर हस्तांतरित

[8] मिसाल के तौर पर देखें शाहिद अमीन (1995), *इवेन्ट, मेटाफ़र, मेमॅरी : चौरी-चौरा 1922-1992*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

होती हो, के बरक्स एक ऐसा इंतज़ाम जिसमें अवाम द्वारा बालिग मताधिकार के ज़रिये नेताओं का चुनाव होता हो— यह इतिहास में बिल्कुल नयी घटना है। इसका आगाज़ आधुनिकता के साथ ही सम्भव होता है। क्लॉद लेफ़ोर के मुताबिक़ यही आधुनिकता की सबसे बेजोड़ राजनीतिक उपलब्धि है, जिसके चलते इतिहास में पहली बार राजसत्ता एक शून्य या खाली जगह के रूप में उभर कर सामने आती है।[9] ज़ाहिर है इसकी क्रांतिकारी सम्भावनाएँ बहुत दूरगामी हैं।

इस नज़रिये से देखें तो पहली निगाह में चटर्जी की बात बेहद अजीब लग सकती है : जनतंत्र और आधुनिकता में अंतर्विरोध? क्या यह मुमकिन है? क्या अर्थ हो सकते हैं इसके? इस बात को समझने के लिए, पृष्ठभूमि के तौर पर, 1980 के दशक से हिंदुस्तान में चली आ रही सेकुलरिज़म पर बहस का सहारा लिया जा सकता है। इस बहस से वाक़िफ़ लोगों को मालूम होगा कि इसका एक अर्थ में सूत्रपात करते हुए 1986 में आशिस नंदी ने अपने लेख 'एंटी-सेकुलरिस्ट मैनिफ़ेस्टो' में यह दावा किया था कि सेकुलरिज़म मूल रूप से एक राज्य-निर्भर विचार है जिसका काम धर्म को राजनीतिक जीवन से निष्कासित करना है ताकि आधुनिक राज्य का काम सुचारु रूप से चल सके। उनके अनुसार ऐसा करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि आधुनिक राज्य को समाज में मौजूद आवाज़ों के बाहुल्य से निपटने में हमेशा परेशानी होती है और इसलिए वह अनगिनत छोटी-बड़ी अस्मिताओं की जगह पर एक राष्ट्रीय अस्मिता तैयार करना चाहता है। उसके इस काम में सेकुलरिज़म की भूमिका महत्त्वपूर्ण है जो अंततः इन अस्मिताओं को रौंद कर एक नयी राष्ट्रीय पहचान गढ़ने में मददगार साबित होता है। इस मायने में, बक़ौल नंदी, सेकुलरिज़म और आधुनिक राज्य दोनों की बुनियाद ही जनजीवन पर ढायी जाने वाली हिंसा पर टिकी है। हिंसा इनके बुनियादी चरित्र का हिस्सा है। इसी बात से वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि आधुनिक राजनीति और राज्य का लोकतंत्र से मूलभूत टकराव है।[10] तक़रीबन दो दशक चलने वाली इस पूरी बहस के दौरान यह बात बार-बार सामने आती है कि कम से कम हमारे भारतीय संदर्भ में लोकतंत्र और आधुनिकता में बराबर एक टकराव देखने को मिलता है। एक मायने में पार्थ चटर्जी के लेखन में इस टकराव को रेखांकित करते हुए इसका सैद्धांतिक सूत्रीकरण किया गया है जिसका एक रूप राजनीतिक समाज की उनकी अवधारणा में सामने आता है।

बक़ौल चटर्जी, पश्चिम के तजुरबों की ज़मीन पर खड़ी राजनीतिक और सामाजिक सिद्धांत की इमारत उत्तर-औपनिवेशिक समाजों के इस यथार्थ से बेख़बर है। यह सिद्धांत हमें बताता है कि आधुनिकता के उदय के साथ समाज की बनावट में एक बड़ा बदलाव आता है जिसे नागर समाज (सिविल सोसाइटी) के रूप में चिह्नित किया जाता है। पश्चिम में सिविल सोसाइटी के अर्थ मूलतः नगर सभ्यता के विकास के साथ जुड़े है जहाँ तिजारत और व्यापार की बड़े पैमाने पर वृद्धि हो रही थी।[11] इसीलिए हेगेल और नौजवान मार्क्स के लिए सिविल सोसाइटी बुर्जुआ सोसाइटी का ही दूसरा नाम था। हेगेल और युवा मार्क्स इसका इस्तेमाल घोषित रूप से इसी अर्थ में करते हैं। इसीलिए इस दौर के सिद्धांतकारों की नज़र में यह नागर समाज वैयक्तिक स्वार्थों के अनुसरण और सिद्धि का दायरा था। हालाँकि पार्थ चटर्जी का यह कहना है कि वे इस पद का इस्तेमाल उसके हेगेलीय और मार्क्सीय अर्थों में करते हैं, दरअसल उनका इस्तेमाल अंतोनियो ग्राम्शी के अर्थों के ज़्यादा नज़दीक है जहाँ सिविल सोसाइटी महज़ वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि का दायरा न हो कर वैचारिक वर्चस्व की

---

[9] देखें, क्लाउद लेफ़ोर (1988) : 17.

[10] देखें आशिस नंदी (1985), 'एंटी-सेकुलरिस्ट मैनिफेस्टो', *सेमिनार,* 314, अक्टूबर.

[11] इससे पहले जॉन लॉक आदि की रचनाओं में सिविल सोसाइटी के पद को महज़ प्राकृतिक दशा (स्टेट ऑफ़ नेचर) के बरक्स सामाजिक जीवन को चिह्नित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। इसकी चर्चा हमारे विषय के बाहर है इसलिए इस पर यहाँ तफ़सील में जाना संभव नहीं है।

वह ज़मीन है जहाँ आधुनिक पूँजीवादी समाज के स्थायित्व को सुनिश्चित करने वाला संस्थाओं और इदारों का एक पूरा का पूरा तंत्र है। इस अर्थ में सिविल सोसाइटी का यह दायरा आधुनिक समाज के उस संस्थागत ढाँचे का पर्याय कहा जा सकता जिसका आधार नागरिकता और हक़/अधिकार की उसकी संकल्पना है। इस अर्थ में सिविल सोसाइटी का तरजुमा नागरिक समाज के रूप में भी किया जा सकता है जैसा कि आजकल प्रचलित है। ग्राम्शी और उनके बाद से लगातार इस नागरिक समाज का एक ख़ास किरदार माना गया है जो हेगेल के सोच से बिल्कुल जुदा है। यह बात याद रखना बेहद ज़रूरी है कि हेगेल और युवा मार्क्स के लिए सिविल सोसाइटी (नागर समाज) फ़क़त ज़ाती स्वार्थ-सिद्धि का दायरा था, और इसके बरक्स राज्य ही वह शै थी, वह ज़मीन थी जहाँ तमाम ज़ाती स्वार्थों से ऊपर उठी हुई सार्वभौमिकता (युनिवर्सलिटी) विराजती थी। राज्य को इसलिए *उस* राजनीतिक सिद्धांत की भाषा में राजनीतिक समाज भी कहा जाता था। बल्कि हेगेल के लिए तो राज्य ही नैतिक जीवन (एथिकल एक्ज़िस्टेंस) का एकमात्र दायरा था जहाँ इनसान अपने ज़ाती स्वार्थों से ऊपर उठ कर जी सकता था। युवा मार्क्स ने इसे स्वीकारते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण संशोधन पेश किया जिसका मर्म यह था कि राज्य अपनी मौजूदा शक्ल में यह भूमिका अदा नहीं कर सकता है। ऐसा कर पाने के लिए ज़रूरी है कि समूचा समाज ही राजनीति में शरीक हो *अर्थात पूरा समाज ही राजनीतिक समाज में तब्दील हो जाए*। इसीलिए उन्होंने बालिग मताधिकार के ज़रिये अवाम की राजनीतिक शिरकत की तजवीज़ रखी।[12] ज़ाहिर है कि इन पदों के मायने तब से अब के दरमियान बहुत बदल चुके हैं।[13] फिर भी इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना ज़रूरी है।

सरकारियत / शासकीयता और आबादी

पार्थ चटर्जी के मुताबिक़, आधुनिक पश्चिमी समाजों के तजुरबों पर आधारित राजनीतिक सिद्धांत के लिए पूरा समाज (यानी जो भी राज्य के बाहर है) ही नागरिक समाज है। वही आधुनिकता की बुलंद ज़मीन है। इसके बरक्स भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में, समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा होता है जो आधुनिकता और नागरिकता के दायरे के बाहर ही रह जाता है।[14] चटर्जी की इस पेशकश को अगर समझना चाहें तो यह समझना होगा कि उनकी कोशिश यहाँ उस दायरे को समझने की है जहाँ लोग सिविल सोसाइटी की बनिस्बत बिल्कुल अलग ढंग से गुज़र-बसर करते हैं। उनके अनुसार इस दायरे में न तो क़ानून की हुकूमत के कोई मायने होते हैं, न ही हक़ की भाषा लागू होती है, क्योंकि राज्य इस हलके के बाशिंदों के साथ नागरिकों की तरह सुलूक करता ही नहीं।

---

[12] देखें, कार्ल मार्क्स (1992), *अर्ली राइटिंग्ज़ इंट्रोड्यूस्ड बाय लुचियो क़ोल्लेटी,* पेंगुइन व न्यू लेफ्ट रिव्यू, लंदन व न्यूयॉर्क; ख़ासतौर पर देखें पृष्ठ 67 पर लूचियो कोल्लेटी की टिप्पणियाँ.

[13] सिविल सोसाइटी के इतिहास और उसके मौजूदा स्वरूप पर एक सम्मिलित चर्चा के लिए देखें सुदीप्त कविराज और सुनील खिलनानी (2002), *सिविल सोसाइटी : हिस्ट्री ऐंड पॉसिबिलिटीज़,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[14] इस बात को पुराने मार्क्सवादी अर्थों में समझने की गलती नहीं करनी चाहिए जिसके अनुसार बोर्ज़्वा समाज में लोकतांत्रिक अधिकार और क़ानून की हुकूमत (रूल ऑफ़ लॉ) सिर्फ़ अमीरों के लिए होते हैं और आम लोग इससे हमेशा बाहर रखे जाते हैं। इस तरह की धारणा हमारे यहाँ काफी प्रचलित है, मगर ऐसी सोच के साथ एक बुनियादी परेशानी है : इसके पीछे ऐसी मान्यता काम कर रही होती है जिसके मुताबिक समाज में सब कुछ या तो पूँजी के लिए होता है या उसके द्वारा संचालित होता है॥ उसके पीछे मान्यता यह होती है कि किसी भी चीज़ का पूँजी के स्वार्थों के बाहर कोई वजूद नहीं होता और समाज में सब कुछ एक केंद्र से कुछ लोगों द्वारा लिए गये फैसलों के तहत पूँजी के हित में परिचालित होता है. इस तरह की सोच में न तो सामाजिक प्रक्रियाओं के स्वतंत्र वजूद को समझने की कोई गुंजाइश बन पाती है न उन प्रक्रियाओं की पेचीदगियों को बारीकी से देखने-समझने की ज़रूरत ही कभी पेश आती है। क़ानून कैसे बनते हैं, किन पेचीदा रास्तों से गुजरते हुए, मुख़्तलिफ़ सामाजिक समूहों और तबक़ों के आपसी द्वंद्वों के बीच, राजसत्ता काम करती है, यह सब कभी हमारे विचारों का विषय ही नहीं बन पाता है.

चटर्जी को अपनी उत्तर-औपनिवेशिक दशा पर रौशनी डालने के लिए एक वैचारिक औज़ार मिशेल फूको के बाद के दौर के काम में दिखायी देता है। अपने इस दौर के काम में फूको इस नतीजे पर पहुँचे थे कि आधुनिक सत्ता के उदय के साथ जहाँ एक तरफ़ अवाम या जनता की धारणा सामने आती है जिसके बिना पर आधुनिक राजनीति का आदर्शगत (नॉर्मेटिव) ढाँचा खड़ा होता है, वहीं दूसरी तरफ़ सरकार चलाने के रोजाना के कामकाज के लिए एक अन्य पद वजूद में आता है। यह पद है आबादी (पॉपुलेशन), जो आधुनिक समाजों में सरकारी कामकाज के लिए बेहद ज़रूरी साबित होता है। इस पद के कोई आदर्शगत मायने नहीं हैं। यह विशुद्ध रूप से एम्पिरिकल या तथ्यगत पद है जो सरकारी नीति-निर्धारण के काम आता है। अगर अवाम या जनता की धारणा आधुनिक राजनीति को उसका आदर्शगत आधार मुहैया कराती है तो आबादी का पद हर आदर्शगत अर्थ से आज़ाद है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि फूको के इस काम में जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि आधुनिक समाजों में, जहाँ अवाम/जनता का ख़याल सम्प्रभुता और हक़ की भाषा को ज़मीन देता है, वहीं सत्ता का एक पूरा का पूरा तंत्र उभर कर सामने आता है जिसका इस वैचारिक तामझाम से कोई ताल्लुक़ नहीं होता। यह दूसरी धारा जो लगातार समानांतर चलती है शासन और सरकार चलाने के काम से निकलती है, जहाँ आबादी की गिनती, उसके घटक समूहों की गिनती और उसका वर्गीकरण और उनके बारे में विवरण जमा करने जैसे सभी काम नीति निर्धारण के काम आते हैं। फूको इसे गवर्नमेंटलिटी या सरकारियत/शासकीयता का नाम देते हैं। उनका कहना है कि आधुनिक सत्ता का कारोबार इस तरह के अनगिनत अमलों से मिल कर बनता है और आधुनिक राजनीति के आदर्शगत विमर्श से इसका कोई ख़ास ताल्लुक़ नहीं होता। पार्थ चटर्जी फूको की इसी अंतर्दृष्टि को अपने सिद्धांतीकरण का आधार बनाते हैं और कहते हैं कि भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक समाज में एक बहुत बड़ा दायरा है जहाँ नागरिकता के विमर्श के आधार पर नहीं, बल्कि आबादी के रूप में सरकारें लोगों के साथ बरताव करती हैं। नागरिकता की ज़मीन के बरक्स आबादी की इस ज़मीन पर लोग सरकारी नीतियों के लक्ष्य मात्र बन कर रह जाते हैं। कम से कम सरकारें तो इस ज़मीन के बाशिंदों को इसी नज़र से देखती हैं।

सरकार और सरकारियत (यानी हमारे अर्थों में राजनीति) की इस ज़मीन से अलग हटते हुए चटर्जी अब बात को और आगे बढ़ाते हैं। वे अब अपनी निगाह समाज के बाशिंदों और उनके अमल (हमारे अर्थों में सियासत) पर डालते हैं। वे पाते हैं कि दरअसल इस ज़मीन पर गुज़र-बसर करने वाले लोगों के लिए रोज़ाना ज़िंदगी जीने की जद्दोजहद उन्हें कुछ ऐसी दिशाओं में ठेलती है जहाँ उन्हें अक्सर क़ानून का उल्लंघन करते हुए अपनी ज़रूरतों की पूर्ति करनी पड़ती है। पार्थ चटर्जी ऐसे कई उदाहरण पेश करते हैं जहाँ लोग या तो सरकारी ज़मीन पर डेरा डाल लेते हैं, ग़ैर-क़ानूनी तरीक़ों से बिजली खींच लेते हैं, या अक्सर बिना टिकट सवारी करते हैं। उनका कहना है कि यह सब कुछ सरकार से छुपा नहीं होता, बल्कि सरकारें अक्सर जानबूझ कर देखी की अनदेखी कर देती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारे जैसे समाजों में सरकारें यह समझती हैं कि लोगों को कुछ बुनियादी सुविधाएँ मुहैया करवाना उनका ही काम है, और ऐसा न कर पाने कि सूरत में उन्हें कुछ हद तक क़ानून के इस तरह होने वाले उल्लंघन की अनदेखी करनी पड़ती है। दूसरी तरफ़, साधारण लोग अपनी रोज़ाना की जद्दोजहद की ख़ातिर संगठन या सभाएँ बनाते हैं, राजनीतिक पार्टियों से रिश्ते बनाते हैं, नेताओं और शासनतंत्र के साथ सौदेबाज़ी करते हैं। सौदेबाज़ी की यह ज़मीन ही हमारे जैसे

[15] इस हिस्से की सारी चर्चा और राजनीतिक समाज के बारे में चटर्जी के जो ख्याल यहाँ रखे गये हैं वह सभी उनके इन लेखों और किताब से लिए गये हैं : पार्थ चटर्जी (1997); (1998 क); (1998 ख); (2004); (2011). इच्छुक पाठक और ज़्यादा तफ़सील के लिए इन्हें देख सकते हैं.

समाजों में सियासत की व्यापक ज़मीन है। इसलिए चटर्जी इसे राजनीतिक समाज का नाम देते हैं।[15]

ग़ौरतलब है कि ऐसा करते हुए वे पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांत में इस पद के जो मायने हैं, उन्हें बिल्कुल बदल कर रख देते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं उस सिद्धांत में राजनीतिक समाज दरअसल राज्य का ही पर्याय है क्योंकि यह माना जाता था कि उसी स्तर पर ज़ाती स्वार्थों से ऊपर उठ कर सार्वभौमिकता हासिल हो सकती है। पार्थ जब इस पद को उसके पश्चिमी संदर्भ से उखाड़ कर हमारे अपने संदर्भ में रोपित करते हैं तो वे एकबारगी उस सिद्धांत का पूरा ढाँचा ही बदल डालते हैं। अब नागर/ नागरिक समाज और राजनीतिक समाज का फ़र्क़ यह नहीं रह जाता कि एक में ज़ाती स्वार्थों की सिद्धि होती है तो दूसरे में सार्वभौमिकता हासिल की जाती है; बल्कि फ़र्क़ अब इस बात में दिखाई देता है कि एक में नागरिकता का आदर्श सर्वोपरि होता है तो दूसरे में रोज़ाना की जद्दोजहद के बीच लेनदेन, ज़ोर–आज़माइशें और सौदेबाज़ियाँ उसके स्वरूप को तय करती हैं। फ़र्क़ अब इस बात में होता है कि अपने इस नये अवतार में राजनीतिक समाज हमें बताता है कि आधुनिकता (और अपनी चंद हालिया रचनाओं में पूँजी) सारे समाज में अपना बोलबाला क़ायम कर पाने में नाक़ाम रही है जैसे कि पश्चिमी राजनीतिक–सामाजिक सिद्धांत हमें विश्वास करने के लिए बाध्य करता है। लिहाज़ा, एक मायने में पश्चिमी थियरी के इलाक़े में उत्तर–औपनिवेशिकता का यह एक दुस्साहसिक हस्तक्षेप था।

राजनीतिक समाज : शुरुआती सम्भावनाएँ

इसीलिए उस शुरुआती दौर में जब पार्थ ने यह पेशकश की थी, हम में से कई लोगों को इसमें बेइंतहा सम्भावनाएँ दिखायी दी थीं। तीसरी दुनिया के समाजों के यथार्थ से जूझते हुए अक्सर पश्चिमी थ्योरी का ढाँचा अपर्याप्त सा लगता था। ऐसा लगता था जैसे कहीं कुछ बाक़ी रह जा रहा है जो पकड़ में नहीं आ रहा है। वर्ना ऐसा कैसे हो सकता है कि इस चश्मे से देखने पर इन समाजों का सब कुछ विकृत, अपरिपक्व या कुछ पटरी से उतरा हुआ लगता था : हमारी आधुनिकता अधूरी थी, हमारा सेकुलरिज़्म भटका हुआ था, राज्य और राष्ट्र भी मिलावट के शिकार थे और यहाँ तक कि इन देशों का पूँजीवाद भी अधकचरा था।

इस दौर में जब पार्थ चटर्जी ने इस पद को विस्तार देना शुरू किया तब उनका ज़ोर सियासत के दो पहलुओं पर था। पहला, रोज़ाना ज़िंदगी की जद्दोजहद में जिस तरह लोग सरकारियत के साथ सौदेबाज़ी के साथ–साथ ग़ैर–क़ानूनी ढंग से अपने जीवन निर्वाह का सामान जुटाते हैं। यहाँ वे कई ऐसी मिसालें देते हैं जिनमें साधारण लोग तमाम तरह की सरकारी सेवाएँ बिना सरकार की इजाज़त के, चुपचाप अपने इस्तेमाल के लिए ले लेते हैं। दूसरा पहलू उनके एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट होता है जिसमें वे कलकत्ता में कई बरस पहले बालक ब्रह्मचारी नामक एक साधू के देहांत से संबंधित क़िस्सा सुनाते हैं। क़िस्सा कुछ इस तरह है कि बाबा की मौत के बाद उनके अनुयाइयों ने यह तय कर लिया कि बाबा दरअसल मरे नहीं बल्कि समाधि में चले गये हैं और एक रोज़ लौट कर आयेंगे। उनकी लाश पड़ी सड़ती रही और शहर के रैशनलिस्ट हलकों में बेचैनी बढ़ने लगी। वैज्ञानिकों और डॉक्टरों समेत अन्य बुद्धिजीवियों ने इससे सेहत के लिए पैदा होने वाले ख़तरे के बारे में आगाह करना शुरू किया और सरकार पर दबाव बनाना शुरू किया कि वह ज़बरन उस देह को वहाँ से हटवाए। आखिरकार बहुत लम्बे समय तक बाबा के अनुयाइयों के साथ बातचीत और सौदेबाज़ी करने के बाद सरकार ने उनका शव वहाँ से हटवाया। इस घटना के माध्यम से इस राजनीतिक समाज का एक और पहलू उजागर हुआ : विवेक और अविवेक (रैशनलिटी और इर्रैशनलिटी) के बीच का फ़र्क़ सीधे–सीधे नागरिक समाज (इस मिसाल में बुद्धिजीवी तबक़ा) और राजनीतिक समाज के टकराव

के ज़रिये सामने आया। एक तरफ़ सरकार की कोशिश थी कि कम से कम नुक़सान और हिंसा के ज़रिये बाबा की लाश उठवायी जाये, और इसके लिए वह एक हद तक लेन-देन करने को तैयार थी; दूसरी तरफ़ रैशनलिस्ट बुद्धिजीवियों का समूह था जो किसी भी सूरत में अविवेक से समझौता नहीं करना चाहता था। उसका आदर्शगत मिज़ाज पूरी तरह पश्चिमी आधुनिकता के रंग में रँगा हुआ था। उसके लिए सरकार का ढीलापन दरअसल अविवेक के साथ समझौता करने की उसकी मानसिकता का परिचायक भर था।[16]

गौरतलब है कि सौदेबाज़ी यहाँ भी थी मगर एक अलग क़िस्म की। और इसी उदाहरण में छिपी है राजनीतिक समाज के खयाल की वह सम्भावना जिसमें उत्तर-औपनिवेशिक समाजों की एक ख़ासियत पकड़ पाने की अपार गुंजाइशें थीं। इसलिए भी कि जिस तरह पश्चिम में राजनीति का सिद्धांतीकरण हुआ है उस में आधुनिकता और रैशनलिज़्म का ऐसा अकाट्य संबंध देखा गया है कि किसी क़िस्म की अविवेकीयता को समझने की उसमें कोई गुंजाइश ही नहीं बचती। एक मायने में इस सिद्धांतीकरण में अविवेक को गोया निष्कासित कर दिया गया है। लिहाज़ा, जिसे हम राजनीतिक सिद्धांत के रूप में जानते हैं,

तीसरी दुनिया के समाजों के यथार्थ से जूझते हुए अक्सर पश्चिमी थ्योरी का ढाँचा अपर्याप्त सा लगता था। ऐसा लगता था जैसे कहीं कुछ बाकी रह जा रहा है जो पकड़ में नहीं आ रहा है। वर्ना ऐसा कैसे हो सकता है कि इस चश्मे से देखने पर इन समाजों का सब कुछ विकृत, अपरिपक्व या कुछ पटरी से उतरा हुआ लगता था : हमारी आधुनिकता अधूरी थी, हमारा सेकुलरिज़्म भटका हुआ था, राज्य और राष्ट्र भी मिलावट का शिकार थे और यहाँ तक कि इन देशों का पूँजीवाद भी अधकचरा था।

[16] यह लेख बाद में पार्थ चटर्जी (2004) में काफ़ी तरमीम के साथ 'पॉपुलेशंस ऐंड पॉलिटिकल सोसाइटी' शीर्षक से छपा है.

जिसे उस रूप में मान्यता प्राप्त है, उसमें सिवाय आदर्शगत चर्चाओं के और कुछ संभव ही नहीं है। इसीलिए उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब मास जम्हूरियतों के उदय के साथ फ़ासीवाद का उदय होता है तो उसे इस सिद्धांत के दायरे में समझने की कोई सम्भावना नहीं बची रहती है। आज तक फ़ासीवाद जैसी परिघटना राजनीतिक समाजशास्त्र के तहत पढ़ी और पढ़ाई जाती है। इसीलिए बीसवीं सदी की इस अव्वल दर्जे की राजनीतिक परिघटना के बारे में जितना शोध होता है उसका बड़ा हिस्सा मार्क्सवाद से जुड़े या उससे निकले बुद्धिजीवी ही करते हैं। कुछ हद तक इनके अलावा फ्रॉयड के मनोविश्लेषण से प्रेरित बुद्धिजीवी इस काम को करने का बीड़ा उठाते हैं। बल्कि फ्रॉयडो-मार्क्सिज़म नाम की एक अलग धारा है जो यह काम करना शुरू करती है। यहाँ ख़ासतौर पर विल्हेल्म रेइख और एरिक फ्रॉम तथा फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के अन्य विद्वानों का ज़िक्र किया जा सकता है। फ़ासिज़म इस विवेकहीनता का एक पहलू था, मगर दरअसल राजनीति में अवाम के पदार्पण के बाद और मास पार्टियों के वजूद में आने के बाद इसकी नये सिरे से शिनाख़्त करने की ज़रूरत पेश आयी जिस पर थोड़ा-बहुत काम पिछले समय में उत्तर-संरचनावाद के असर में हुआ।

कहने की ज़रूरत नहीं कि ग़ैर-पश्चिमी देशों की राजनीति में ऐसे बहुत से पहलू हैं जिनका अपने अलग इतिहास के चलते, पश्चिमी आधुनिकता के रैशनलिज़म से बहुत कम वास्ता है। इतना ही नहीं, इन देशों में न तो सरमाएदारी का उस तरह बोलबाला कायम हुआ है और न ही इनके राज्यों की पैठ समाज में उतना भीतर तक जा पायी है जितना हमें पश्चिमी समाजों में देखने को मिलती है। इस स्थिति को राजनीतिक सिद्धांत के चश्मे से देखने पर यह हमेशा एक क़िस्म के पिछड़ेपन की निशानी ही मालूम होती है।

पार्थ चटर्जी के इस हस्तक्षेप में ऐसे इर्रैशनल पहलुओं को देखने की ऐसी सम्भावनाएँ मौजूद थीं जिनके सहारे राजनीतिक सिद्धांत का हुलिया बदल सकता था और उत्तर-औपनिवेशिक समाजों के तजुरबे का एक अहम हिस्सा इसके साथ संवाद में लाया जा सकता था। मगर पार्थ ने अपने आगे की रचनाओं में राजनीतिक समाज की इस सम्भावना की तहक़ीक़ात करने के बजाय उसे सरकारियत के एक ख़ास पहलू, कल्याण, के साथ जोड़ कर उसकी सारी सम्भावनाओं को एक मायने में खत्म ही कर दिया।

फूको के सरकारियत के काम का एक पहलू है जो उसकी कल्याणकारी भूमिका से ताल्लुक़ रखता है। फूको इसे ठीक इस तरह कल्याण तो नहीं कहते मगर पार्थ उसे कल्याण के रूप में पेश करते हुए सरकारियत को इसी में समेट कर रख देते हैं। आधुनिक सरकारें इस मायने में पुराने क़िस्म की राजसत्ताओं से अलहदा हैं कि उन्हें अपनी पूरी आबादी की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है और यह सुनिश्चित करना होता है कि उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा, रोज़गार आदि की बुनियादी सहूलियतें मुहैया हों। बेशक वे इनमें नाकाम रहें मगर उन्हें लगातार इस दिशा में प्रयासरत रहना पड़ता है। सरकारियत के इसी पहलू को राजनीतिक समाज की अपनी अवधारणा का पूरा दारोमदार देकर, मेरी समझ से पार्थ उसमें मौजूद तमाम सम्भावनाओं को उनके फलने-फूलने से पहले ही ख़त्म कर देते हैं। यही वजह है कि उन्हें हमेशा ऐसे उदाहरण ही सूझते हैं जहाँ सरकारें कुछ हद तक अपनी इस भूमिका को निभाती दीख पड़ती हैं। उनके उदाहरणों में कभी भूले से भी ऐसे प्रकरण नहीं मिलेंगे जहाँ सरकारें अपने खूँख्वार चेहरे के साथ सामने आती हैं। पार्थ चटर्जी के उदाहरणों में कभी भी आप उन अनगिनत गाँवों और हरसूद और टिहरी जैसे शहरों का ज़िक्र न पाएँगे जो सरकार की करतूतों के चलते ही पानी में डूब कर इतिहास के पन्नों में दर्ज होने भर के लिए रह गये।

इतना ही नहीं, पिछले दिनों इस मसले पर बहस के दौरान यह सवाल भी उठाया गया कि आदिवासी समाज और उनकी सियासत और उनके साथ होने वाली राज्य की हिंसा को क्या राजनीतिक

समाज का अंग माना जा सकता है ? सवाल यह भी उठा कि माओवाद जैसे आंदोलन जो सीधे-सीधे राज्य की हिंसा के जवाब में क्रांतिकारी हिंसा करते हैं, उन्हें क्या इस दायरे के भीतर माना जा सकता है ?[17] दोनों के जवाब में पार्थ का कहना था कि वे राजनीतिक समाज से बाहार की परिघटनाएँ हैं।[18] अगर इस बात को ध्यान में रखा जाए कि राजनीतिक समाज वो है जो नागरिक समाज का हिस्सा न बन पाया या जिसे वहाँ से निष्कासित कर दिया गया है; अगर यह बात गम्भीरता से ली जाए कि यह वो दायरा है जहाँ पश्चिमी आधुनिकता का आदर्शगत ढाँचा वर्चस्वशाली नहीं हो पाया है तो फिर किस आधार पर यह दावा किया जा सकता है कि ये तमाम हिस्से राजनीतिक समाज के बाहर पड़ते हैं ?

पार्थ चटर्जी की तरफ़ से यह तर्क पेश किया जा सकता है कि आख़िरकार वे तो सिर्फ़ उत्तर-औपनिवेशिक समाजों की राजनीति के एक ख़ास पहलू भर की ओर ध्यान खींचना चाहते हैं। ज़ाहिर है इसके ज़रिये वे आम लोगों के दैनंदिन अमल की तरफ़ हमारा ध्यान खींचते हैं और हमें बताते हैं कि किस तरह क़ानून के बाहर होते हुए भी सरकारों को इन्हें बर्दाश्त ही नहीं करना पड़ता बल्कि अक सर इन्हें तवज्जो भी देनी पड़ती है। एक मायने में सरकारों को इन लोगों के नैतिक दावों को स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह बात सही होते हुए भी, और यहाँ तक चटर्जी के योगदान को स्वीकार करते हुए भी, यह पूछा जा सकता है कि भला बात अगर इतनी सी है तो यह तो हमारे जैसे समाज में नागरिक समाज के दायरे के बाहर की ज़िंदगी का इतना छोटा सा हिस्सा है कि इसे अलग से चिह्नित करने से क्या हासिल होता है ? क्या इससे हमें हिंदुस्तान की राजसत्ता के स्वरूप के बारे में या आमतौर पर भारतीय राजनीति/ सियासत के बारे में कुछ नये ढंग से सोचने में मदद मिलती है ? क्या हमारे समाज के उस विशाल हलके के बारे में हमें कोई ऐसी रोशनी मिलती है जो तथाकथित नागरिक समाज के बाहर पड़ता है ? मेरी समझ से आख़िरकार हमारे सामने सवाल सियासत को अपने व्यापक रूप में समझने का है और पार्थ फ़िलहाल जिस दिशा में अपने काम को आगे बढ़ा रहे हैं उससे हमें इस काम में ज़्यादा मदद नहीं मिलती है। इसकी एक बहुत बड़ी वजह यह है कि अंततः राजनीतिक समाज उनके लिए वह है जहाँ सारी बातों के बाद एक हल निकलता है और सरकार उसके बाशिंदों के साथ किसी क़िस्म के समझौते पर पहुँचती है चाहे यह समझौता दीर्घकालिक न हो। जहाँ यह समझौता नहीं हो पाता वहाँ उनका यह पद नाकारा साबित होता है।

सियासत का सवाल

पार्थ चटर्जी जिस बात को बिलकुल नज़रअंदाज़ कर जाते हैं वह है सियासत का सवाल। जैसा हमने शुरू में इशारतन कहा था, सियासत वह है जो औपचारिक राजनीति और उसके दायरों में होने वाली क़वायदों से अलग समाज के ईंट-गारे में मौजूद रहती है। राजनीति का दायरा *राज्य की वैधानिक-राजनीति का दायरा है* जहाँ सत्ता का गठन होता है और जो एक मायने में पूरे सामाजिक ताने-बाने को आकार देता है। इसी स्तर पर क़ानूनों और नीतियों के ज़रिये परिवार, समुदाय, स्कूल, कारखाने आदि की बनावट तय होती है। अर्थात उनका ढाँचागत आकार यहीं बनता है। इसी जगह नीतियँ बनती हैं और यहीं पर संसद, पार्टियाँ, चुनाव आदि का हस्तक्षेप होता है। इसी हस्तक्षेप के ज़रिये समाज अपने आधुनिक अर्थ में वजूद में आता है। मगर जैसे कि हम अपने तजुरबों से भी जानते हैं, सत्ता और

---

[17] देखें अमिता बाविस्कर व नंदिनी सुंदर (2008), 'डेमॉक्रैसी वर्सेस इकनॉमिक ट्रांसफॉर्मेशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 46.

[18] दरअसल रांसिएर के लेखन में राजनीति और सियासत के इन दो रुझानों की बात तफ़सील चर्चा मिलती है हालाँकि वे ये पद इस्तेमाल नहीं करते। यहाँ उनके विचारों की विशद चर्चा सम्भव नहीं है.

अदावत के रिश्ते समाज भर में संचारित होते हैं, और उसके अलग-अलग मुक़ामों में लगातार टकराव और ज़ोर-आजमाइशें चलती रहती हैं जो इन ढाँचों से टकराती भी हैं। हम जानते हैं कि चाहे जातिगत उत्पीड़न का मामला हो या लिंग-आधारित शोषण का, इन सभी के इर्द-गिर्द समाज के हर कोशिका में टकराव चलते रहते हैं। जब तक ये टकराव खामोश और निगाह से ओझल रहते हैं तब तक इन्हें पहचानना कठिन होता है। मगर यही टकराव फिर आहिस्ता-आहिस्ता शब्दों के ज़रिये मुखरित होते हैं और एक राजनीतिक चेहरा ग्रहण करने लगते हैं। एक जगह एकत्रित होते-होते अंततः ये समूह और आंदोलन की शक्ल लेते हैं। इस पूरी प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में चलने वाली गतिविधियों को हम सियासत कह सकते हैं जो तब तक राजनीति से अलग वजूद क़ायम रखती है जब तक वह औपचारिक राजनीति के दरवाज़े पर दस्तक नहीं देती।

अब इस मुक़ाम पर एक बार फिर रुक कर राजनीति और सियासत के सवाल को थोड़ा सा और बारीक़ी से देख लेना मुनासिब होगा। अभी तक हमने राजनीति और सियासत के बीच फ़र्क़ को औपचारिक और अनौपचारिक या राज्य और राज्येतर के रूप में परिभाषित किया है मगर अब इन दो पदों को थोड़ा और गहराई में उतर कर देखना होगा।

दरअसल जिसे हम अब तक औपचारिक राजनीति कह रहे थे वह चूँकि राज्य, सरकार और राज-काज से ताल्लुक रखती है, इसलिए उसमें व्यवस्था की ओर झुकने की एक ख़ास प्रवृत्ति मौजूद होती है। इस ज़मीन पर कोई भी राजनीतिक दल ज़्यादा दिनों तक अपना लड़ाकू तेवर बना कर नहीं रख सकता है। जब तक वह दल छोटा होता है और राजनीति में कारगर हस्तक्षेप करने लायक नहीं होता, तब तक वह इस दबाव से मुक्त रह सकता है। अक्सर आकार में बड़ा होने के बावजूद बाज़ आंदोलन अपना लड़ाकू चेहरा बनाए रखने में कामयाब हो सकते हैं बशर्ते वह इस ज़मीन पर पूरी तरह पैर न जमा ले। अन्यथा, हालत वही हो जाती है जो आज भारतीय राजनीति में चारों तरफ़ फैली दिखाई देती है जहाँ सारे दल एक दूसरे से एक क़िस्म की नूरा कुश्ती कर रहे होते हैं। तथाकथित विकसित लोकतंत्रों में भी कुछ ऐसा ही आलम देखने को मिलेगा जहाँ विरोधी दलों के चेहरे क्रमशः एक दूसरे जैसे दिखने लगते हैं : मिसाल के तौर पर ब्रिटेन की कंज़रवेटिव और लेबर पार्टी को देखें या फिर अमेरिका की रिपब्लिकन व डेमोक्रेटिक पार्टियों को देखें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। लिहाज़ा, राजनीति का रुझान व्यवस्था और समझौते की ओर होता है। इसके विपरीत, सियासत वह तत्त्व है जिसका रिश्ता अदावत से है। यह वह तत्त्व जो व्यवस्था की ओर रुझान में रुकावट पैदा करता है, उसे बाधित करता है। यह वह तत्त्व है जो नित नये दावों के पेश होने के ज़रिये नमूदार होता है। एक मायने में हम कह सकते है कि सियासत वह तत्त्व है जो कोरा इत्तफाक (कंटिन्जेंसी) है, जिसे किसी नियम-क़ानून के भीतर समेटा नहीं जा सकता है। इस नज़रिये से देखें तो यह ऐन मुमकिन है कि ख़ुद राजनीति की ज़मीन पर सियासत का विस्फोट हो। अक्सर ऐसे मौके आते हैं जब ख़ुद उस ज़मीन में दरारें पड़ जाती हैं। यह संभव है कि ऐसा बाहरी दबावों के चलते हो अर्थात औपचारिक राजनीति की दुनिया के बाहर चल रहे आंदोलन या विस्फोट ख़ुद राजनीति की ज़मीन में ज़लज़ला पैदा कर दें।

हमारे जैसे समाज में इस सियासत को उसके एक और रूप में भी देखा जा सकता है। यह रूप उससे अलहदा है जिसकी चर्चा हम अभी तक कर रहे थे। यह रूप उन यकायक सामने आने वाले फौरी आंदोलनों या सामयिक विस्फोटों में भी दिखाई देता है जो किसी एक मुद्दे के इर्द-गिर्द इकट्ठा होता है और उतनी ही जल्दी बिखर कर आँखों से ओझल भी हो जाता है। नंदीग्राम में किसानों का विद्रोह या आजकल तमिलनाडु में कूडनकूलन में न्यूक्लियाई संयंत्र के ख़िलाफ़ चल रहे आंदोलन में भी सियासत का यह पहलू देखा जा सकता है। ऐसे आंदोलन ज़रूरत पड़ने पर राजनीति और राजसत्ता से सीधे-सीधे टकरा भी सकते हैं मगर उनका उससे रिश्ते कायम करने की कोई ख़्वाहिश नहीं होती;

उनकी लड़ाई अपनी रोज़ाना ज़िंदगी की लय की हिफाज़त करने के लिए होती है।

अगर इस तरह देखें तो फ्रांसीसी दार्शनिक ज़ाक रांसिएर के साथ आंशिक सहमति जताते हुए यह कहा जा सकता है कि सियासत हमेशा नहीं होती; वह उन ख़ास मौकों पर ही होती दिखाई देती है जब व्यवस्था के रुझान के सामने चुनौती पेश आती है।[19] रांसिएर की प्रस्थापना से पूरी तरह सहमत होना तो संभव नहीं है क्योंकि उनके अनुसार सियासत तभी होती है जब मातहत तबक़े बराबरी का दावा पेश करते हैं। इस तरह उनके लिए सियासत एक ख़ास क़िस्म की प्रगतिशील सियासत ही रह जाती है, जबकि हम जानते हैं कि व्यवस्था के रुझान को चुनौती किसी भी दिशा से मिल सकती है। सियासत प्रतिगामी भी हो सकती है।

पार्थ के लिए इस सियासत का कोई वजूद तब तक नहीं है जब तक लोग सभाएँ या संगठन बना कर सरकार के साथ सौदेबाज़ी में नहीं उतरते। पार्थ के लिए यह सौदेबाज़ी उसी हद तक मायने रखती है जिस हद तक उससे, सामयिक ही सही, कोई हल निकलता हो। यानी, उसी हद तक जिस हद तक वह व्यवस्था के रुझान के साथ ताल मिलाता दीख पड़ता हो। दूसरे शब्दों में, हमारे अर्थ में जब तक वे सियासत की ज़मीन छोड़ कर राजनीति के धरातल पर क़दम नहीं रखते। और तो और, पार्थ यह भी क़बूल करने को तैयार नहीं दीखते कि दरअसल जिन्हें वे राजनीतिक समाज का बाशिंदा मानते हैं, उनकी ज़िंदगी का ध्येय सिर्फ सरकारियत की छाँव में पनाह लेना नहीं होता। अपनी हालिया किताब, *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी* में (और कुछ अन्य लेखों में) तो वे यह दावा बिना किसी हिचक के करते हैं कि दरअसल अब ज़माना इतना बदल गया है कि विद्रोह कर रहे किसान या आबादी के अन्य तबके दरअसल सरकार की कल्याणकारी नीतियों से कुछ फायदा हासिल भर करना चाहते हैं। वे इस बात को इस तरह पेश करते हैं गोया ऐसी उम्मीद करना अपने आप में ख़ुद को सरकारियत के हवाले कर देने का पर्याय हो।

लीनियेजिज़ में पार्थ बार-बार यह दावा करते हैं कि उनका उद्देश्य रोज़मर्रा की ज़िंदगी को समझना है जबकि उनके तमाम आलोचकों को यह विषय बेहद बोरियत पैदा करने वाला लगता है। उनका कहना है कि उनके ये आलोचक दरअसल सिर्फ चकाचौंध पैदा कर देने वाले जनांदोलनों को ही देखना चाहते हैं।[20] मुझे मालूम नहीं पार्थ यहाँ किन आलोचकों की बात कर रहे हैं मगर इतना ज़रूर कह देना चाहता हूँ कि मेरे जैसे कई दोस्ताना आलोचकों ने इस नज़रिये से कभी उनकी आलोचना नहीं की। मेरी और शायद कुछ अन्य आलोचकों की कोशिश यह रही है कि उन्होंने ख़ुद जिस तरह रोज़मर्रा को परिभाषित किया है उसमें उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा बाहर ही छूट जाता है। अगर हम बारीक़ी से आम लोगों की राज्य के साथ रोजाना की मुठभेड़, ख़ासतौर पर पुलिस और नगर निगम के साथ, को देखें तो इस बात से इनकार करने की कोई गुंजाइश नहीं बचती कि लोग उसकी छाया से कोसों दूर रहना पसंद करते हैं। बेशक वे उसके सामने अपनी माँगें रखते रहें, बेशक वे उससे सौदेबाज़ी करते रहें, मगर मातहती की ज़िंदगी का एक पहलू यह भी है कि वह ज़िंदगी का बड़ा हिस्सा राज्य और उसके कारिंदों की निगाह से दूर रखता है। बल्कि शायद यहाँ तक कहा जा सकता है कि अपनी ज़िंदगी की स्वायत्तता बनाए रखने के लिए ही वे सरकार और उसके कारिंदों के साथ एक ऊपरी रिश्ता बनाये रखती है। लिहाज़ा, आप अगर नेताजी और उनके चेलों के कहने पर

[19] देखें पार्थ चटर्जी (2008), 'क्लासेज़, कैपिटल ऐंड इंडियन डेमोक्रेसी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 43, अंक 46.

[20] देखें, पार्थ चटर्जी (2011) : 150.

किसी केंद्रीय जलसे में शरीक होने चले जाते हैं तो अक्सर इसलिए कि आप उन्हें इस बात की हवा नहीं लगने देना चाहते कि अगले चुनाव में आप उनके ख़िलाफ़ वोट डालेंगे।

एक सवाल यहाँ पूछा जाना चाहिए। आधुनिक राजनीति का आदर्शगत ढाँचा कभी अमल में लाने लायक क्यों नहीं बन पाता और क्यों हमेशा उसे सरकारियत के लिए जगह बनानी पड़ती है? मेरे ख़याल से इसकी वजह यह है कि सत्ता, सरकार, राज्य कभी भी पूरी तरह पॉपुलर ज़िंदगी पर अख़्तियार नहीं जमा पाते। हमेशा कुछ ऐसा होता है जो हाथ से बाहर निकल जाता है। खिसक कर सत्ता के कब्ज़े के बाहर हो जाता है। फ़रार हो जाता है। उसी को अपने अख़्तियार में रखने की क़वायद है जो आखिरकार आदर्शगत सवालों को किनारे लगा कर सरकारियत का रास्ता खोलती है।

ज़ाहिर है कि अगर इस नज़र से देखें तो शायद नागरिक समाज और राजनीतिक समाज आदि के फ़र्क़ के कोई ख़ास मायने नहीं रह जाते। जो बुनियादी फ़र्क़ सामने आता है वह है राजनीति के औपचारिक-वैधानिक ढाँचे के बरक्स उस सियासत का जो कभी-कभी उससे टकराता है मगर ज़्यादातर बस लम्हे भर के लिए सामने आकर फिर लुप्त हो जाता है। फ़रार हो जाता है।

संदर्भ

अजय गुडूवर्थी (2012), *रीफ्रेमिंग डेमॉक्रैसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया,* एंथम प्रेस, लंदन, न्यूयार्क.

अमिता बाविस्कर व नंदिनी सुन्दर (2008), डेमॉक्रैसी वर्सेस इकनॉमिक ट्रांसफॉर्मेशन, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 46.

आशिस नंदी, (1985), 'एंटी-सेकुलरिस्ट मैनिफ़ेस्टो', *सेमिनार,* 314, अक्टूबर.

आदित्य निगम (2006), *द इंज़रेक्शन ऑफ़ लिटिल सेल्व्ज़ : द क्राइसिस ऑफ़ सेकुलर-नेशनलिज़म इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—— (2005), *सिविल सोसाइटी ऐंड इट्स अंडरग्राउंड : एक्सप्लोरेशंस इन द नोशन ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी,* राजीव भार्गव व हेल्मुट राइफेल्ड (सम्पा.).

ऑलिवर मार्शार्ट (2007), *पोस्ट-फाउंडेशनल पॉलिटिकल थॉट : पॉलिटिकल थॉट इन नोंसी, लेफ़ोर, बादियू ऐंड लक्लाऊ,* एडिनबरा युनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबरा .

कार्ल मार्क्स (1992), *अर्ली राइटिंग्ज़ इंट्रोड्यूस्ड बाय लुचियो कोल्लेटी,* पेंगुइन व न्यू लेफ्ट रिव्यू, लंदन व न्यूयॉर्क.

क्लाउड लेफ़ोर (1988), *डेमॉक्रैसी ऐंड पॉलिटिकल थियरी,* पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड .

द्वैपायन भट्टाचार्य (2009), *ऑफ़ कंट्रोल ऐंड फैक्शंस : द चेंजिंग पार्टी-सोसाइटी इन वेस्ट बंगाल, इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 44 (9).

निकोस पूलान्त्ज़्साज़ (1968), *पॉलिटिकल पावर ऐंड सोशल क्लासेस,* वर्सो, लंदन.

निवेदिता मेनन (2010), 'इंट्रोडक्शन', *पार्थ चटर्जी, एम्पायर ऐंड नेशन : एस्सेंशल राइटिंग्स (1985-2005),* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

निवेदिता मेनन व आदित्य निगम (2007), *पावर ऐंड कांटेस्टेशन : इंडिया सिंस 1989,* ज़ेड बुक्स, व दिल्ली (2008) ओरिएंट लोंगमैन.

पार्थ चटर्जी (2011), *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

—— (2008), 'क्लासिज़, कैपिटल ऐंड इंडियन डेमॉक्रैसी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 46.

—— (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्न्ड : रिफ्लेक्शंस ऑन पॉपुलर पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

—— (1997), 'बियोंड ड नेशन? और विदिन?' *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 3, अंक 1-2).

—— (1998 क), 'कम्युनिटी इन द ईस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 6.

—— (1998 ख), *वेजेस ऑफ़ फ्रीडम : फिफ्टी इयर्स ऑफ़ द इंडियन नेशन स्टेट,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

राजीव भार्गव व हेल्मुट राइफेल्ड (सम्पा.), (2005), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फ़ियर ऐंड सिटीज़नशिप : डॉयलोग्स ऐंड परसेप्शंस* , सेज पब्लिशर्स, दिल्ली व लंदन.

शांताल मूफ (1993), द *रिटर्न ऑफ़ द पॉलिटिकल,* वर्सो, लंदन, न्यूयॉर्क.

शाहिद अमीन (1995), *ईवेंट, मेटाफ़र, मेमॅरी : चौरी-चौरा 1922-1992,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुदीप्त कविराज और सुनील खिलनानी (2002), *सिविल सोसाइटी : हिस्ट्री ऐंड पॉसिबिलिटीज़,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.